

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय की अवधारणा

डा. ज्योत्स्ना गौतम,

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, नवयुग कन्या महाविद्यालय, लखनऊ, उ.प्र.

शोध सारांश

राज्य की उत्पत्ति का एक प्रमुख उद्देश्य न्याय की स्थापना रहा है, ताकि दुर्बल की सबल से रक्षा की जा सकें। नागरिक समाज में न्याय की प्रस्थापना कैसे की जाये यह पारुचात्य एवं भारतीय राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय रहा है। प्रस्तुत लेख में प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में, न्याय क्या है न्याय की आवश्यकता, न्याय के स्रोत, न्यायिक प्रशासन की संरचना, न्यायिक प्रक्रिया, निर्णय के आधार आदि के विषय में भारतीय विचारको मन, कौटिल्य शुक्र, भीष्म आदि के विचारों से अवगत होने का प्रयत्न किया गया है।

मुख्य शब्द – न्याय, न्यायालय, प्रमाण, राज्य, राजा, कौटिल्य, मनु।

न्याय की संकल्पना प्राचीन काल से ही राजनीतिक चिन्तन का महात्वपूर्ण विषय रही है। सामाजिक नियमों के अनुसार कार्य करना और दायित्व की पूर्ति करने को न्याय माना गया है। मनुस्मृति, कौटिल्य, अर्थशास्त्र, कात्यायन, नारद पुराण, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनमें न केवल न्यायिक सिद्धान्तों का उल्लेख है। अपितु न्याय व्यवस्था के संगठनात्मक एवं कार्यात्मक संरचना का भी उल्लेख है जिसके द्वारा प्राचीन भारतीय समाज में न्यायिक व्यवस्था संचालित होती थी। इस परिप्रेक्ष्य में परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विशेषता यह रही कि यहाँ प्राचीन युग में ही न्याय की उस कानूनी धारणा को अपना लिया था जिसे पश्चिम के राजनीतिक चिन्तक आधुनिक युग में ही अना सके थे।

मनु पहले राजनीतिक दार्शनिक थे जिन्होंने प्राचीन भारत में भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा की नींव रखी। मनुस्मृति में न्याय व्यवस्था का विस्तृत विवरण किया गया है। मनु के अनुसार धर्म सभा राज्य में सर्वोच्च

न्यायालय है, इस न्यायालय में राजा मुख्य न्यायाधीश है, जिसके पद को धर्माध्यक्ष कहा जाता है। मनुस्मृति में मनु ने एक अन्य धर्म सभा जो प्रथम धर्मसभा के अधीन कार्य करती है का उल्लेख किया है, इस प्रकार मनु स्मृति में दो श्रेणी के न्यायालयों का उल्लेख है दीवानी और फौजदारी। मनुस्मृति के अनुसार यदि राजा स्वयं विवादों का निर्णय न करे तो उसे एस कार्य के लिए किसी ब्राह्मण को नियुक्त किया जाना चाहिए। राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मणों की भी ऐसे तीन व्यक्तियों के साथ न्यायालय में न्याय कार्य करना चाहिए, सभी विवादों का निस्तान पूर्ण निष्पक्षता के साथ होना चाहिए। मनु के अनुसार जिस में सत्य असत्य से पीड़ित होता है उसके सदस्य पाप से स्वयं नष्ट हो जाते हैं। मनु का मत है कि न्यायाधीश ब्राह्मण ही होने चाहिए न कि शूद्र। न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति हो जो व्यक्ति की भाव भंगिया से उनके भावों के समझ सकें। मनु के अनुसार प्रत्यक्षी एवं साक्षियों के प्रति न्यायाधीशों एवं कर्मचारियों का व्यवहार धर्म सभा में शिष्ट और विभ्रम होना चाहिए। मनु ने जाति धर्म, श्रेणी धर्म, कुल धर्म, गण-धर्म, देश धर्म आदि परम्पराओं

को न्याय में सहायक माना है, तथा राजा को न्याय करते समय इनका अवलोकन करने का परामर्श दिया है।

मनु साक्ष्य के लिए दो प्रकार के प्रमाण का उल्लेख करता है मानुष प्रमाण और दिव्य प्रमाण। मानुष प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं, जैसे लिखित, युक्ति अथवा भोग और साक्षी। मनु का मत है कि न्यायाधीशों द्वारा लिखित प्रमाणों को अधिक वरीयता दी जानी चाहिए लेकिन बलात लिखाये गये लेखों को स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिए। युक्ति प्रमाण के सम्बन्ध में मनु का मत है कि यदि किसी व्यक्ति की किसी वस्तु को कोई 10 वर्ष से अधिक समय से उपयोग कर रहा है तो वह वस्तु उसी की हो जायेगी, किन्तु बालक या पागल पर यह नियम लागू नहीं होना चाहिए। मनु महत्व की दृष्टि से इन तीनों में प्रथम स्थान लेख को द्वितीय युक्ति या भोग को और अन्तिम स्थान साक्ष्य प्रमाण को देता है, मनु के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति साक्षी बनने की पात्रता नहीं रखता, उनकी दृष्टिमें असत्य बोलने वाले, सेवक, शत्रु, सन्यासी, कोठी के वचन विष्वसनीय नहीं हो सकते। साक्षी के सम्बन्ध में मनु का मत है कि साक्षी धर्मावित् होना चाहिए, अर्थात् देश धर्म, जाति धर्म, श्रेणी धर्म, कुल धर्म आदि के ज्ञाता होने चाहिए। विदेशी व्यक्ति साक्षी नहीं समझे जा सकते। मनु का मत है कि मिथ्या साक्ष्य देने वाले को कठोर दण्ड मिलना चाहिए। वह स्त्री सम्बन्धी वाद में स्त्रियों के साक्ष्य का समर्थन करता है। एक विषेषज्ञ के रूप में मनु ब्राह्मण की साक्षी को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माता है। साक्षी के अभाव में वादी प्रतिवादी को शपथ देकर सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया जा सकता है। मनु का मत है कि जब दोनो पक्षों में से कोई भी अपना अपराध स्वीकार न करे तब वादी को चाहिए की वह तीन साक्षियों को प्रस्तुत करे किन्तु विषेष स्थिति में इससे कम साक्ष्य भी मान्य हो सकते हैं। अग्नि को ग्रहण करना, जल में डुबोना, शपथ लेना आदि दिव्य प्रमाण के

अन्तर्गत आते हैं, इन प्रमाणों का प्रयोग ऐसी अनिश्चित परिस्थितियों में ही किया जा सकता है जब विवादित विषय में सहमति न हो, उचित निर्णय संभव न हो, मानुष प्रमाण नगण्य हो।

मनु का मत है कि यदि अभियोग के अवलोकन कार्य में न्यायाधीश ने त्रुटि की है अथवा त्रुटिपूर्ण निर्णय दिया है, तो राजा को स्वयं ऐसे मामले का पुनरीक्षण करना चाहिए, अन्यथा दण्ड देने वाले को दण्डित करना चाहिए। जिन विवादों में साक्षियों ने मिथ्या साक्ष्य प्रस्तुत किया है उन पर भी पुनः विमर्श करना चाहिए, और पूर्व में किये गये निर्णय को निरस्त समझ जाना चाहिए। मनु के अनुसार अभियोग को अनुचित निर्णय होने पर अधर्म का समान अंश अधर्म करने वाले को साक्षी, न्यायाधीश एवं राजा को प्राप्त करता है। इसलिये सभा के न्यायाधीशों को सत्य की रक्षा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञा होना चाहिए तथा सत्यता की जाँच के लिए लिखित युक्ति तथा साक्ष्य का परीक्षण किया जाना चाहिए, तथा न्यायाधीशों को दण्ड देते समय मर्यादा एवं अनुपात का ध्यान रखा जाना चाहिए।

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में राज्य के दायित्वों में न्याय को प्रमुख स्थान दिया है उनका मत है कि दोनो लोको में मनुष्य को सुख एवं आनन्द की प्राप्ति स्वधर्म पालन से ही सम्भव है इस हेतु राज्य में समुचित न्याय व्यवस्था का होना आवश्यक है। न्याय के अभाव में प्रजा पुरुषार्थ से वंचित हो जाती है, इसलिए न्याय ही प्रजा को उक्त चरत लक्ष्य तक ले जाने वाला मार्ग है। कौटिल्य के अनुसार न्याय राज्य का प्राण है उसका मत है कि प्रजा को न्याय देने में अक्षम राज्य शीघ्र समाप्त हो जाता है। कौटिल्य ने प्रजा के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा तथा दुष्ट प्रकृति के तत्वों एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने वाली प्रजा को दण्डित करना न्याय का उद्देश्य बताया है। कौटिल्य न्यायिक पदाधिकारियों की न्यायिक कार्यों में निष्पक्षता पर बल देता है, इस सम्बन्ध में

उसका मत है कि वे ब्राह्मण, धर्मशास्त्र एवं विधिशास्त्र के विषेषज्ञ होने चाहिए। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य में चतुस्तरीय न्याय पालिका के गठन की व्यवस्था की है। प्रथम जनपद संधि न्यायालय दो राज्यों या गाँवों की सीमा पर स्थापित होने के कारण इसे संधि न्यायालय के नाम से भी जाना जाता था, द्वितीय संग्रहण न्यायालय दस गाँवों के केन्द्र में स्थापित न्यायपालिका की मुख्य ईकाई को संग्रहण न्यायालय कहा गया है। तृतीय द्रोण मुख न्यायालय में 400 गाँवों के केन्द्र में स्थापित न्याय व्यवस्था की मुख्य ईकाई होने के कारण इनका क्षेत्र अधिक विस्तृत था। स्थानीय न्यायालय 800 गाँवों के केन्द्र में स्थापित 20 क न्यायालय था। कौटिल्य ने विवाद के स्वरूप के आधार न्यायालयों को दो भागों में वर्गीकृत किया है, धर्मस्थीय तथा कंटरषोधन जिन्हे वर्मतान समय के दीवारी एवं फौजदारी न्यायालय के लगभग समकक्ष माना जा सकता है। धर्मस्थीय न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में नागरिकों के परस्पर व्यवहार से उत्पन्न विवाद आते थे, यथा सम्पत्ति, संविदा, उत्तराधिकार विवाह, ऋण, धरोहर आदि।

कौटिल्य ने दुसरे प्रकार के न्यायालय को कण्टर शौधन का नाम दिया है, इस न्यायालय पर उद्देश्य राज्य से कष्ट को अर्थात् शत्रुओं (राज्य के भ्रष्ट व्यावसायियों कर्मचारियों एवं दुष्ट जनों) को दूर कर प्रजा की रक्षा करना है। राजा अथवा राज्य के प्रति किये जाने वाले सभी अपराधों पर विचार करना कन्टकषोधन न्यायालय का दायित्व है। कौटिल्य ने न्याय को दृष्टिहीन बताया है जो मित्र और शत्रु में पक्षपात नहीं करता, लेकिन न्याय से श्रेष्ठ व्यक्तियों, स्त्री, बालक वृद्ध एवं अतिरिक्त प्रत्येक अपराधी को अपराधानुकूल दण्ड तथा बीमार, परदेसी, भूखे प्यासे व्यक्तियों पर नम्रता का परामर्ष भी कौटिल्य द्वारा दिया गया है।

कौटिल्य के अनुसार राजा न्यायिक व्यवस्था का सर्वोच्च पदाधिकारी है वह अन्य न्यायाधीशों का नियोक्ता है, उसका मत है कि एक ही न्यायाधीश वाले न्यायालय के न्यायाधीश स्वेच्छाचारी हो सकते हैं। कौटिल्य सर्वोच्च न्यायालय के तीन धर्मस्थ न्यायाधीश एवं तीन अमात्यों पर बल देता है, इससे प्रतीत होता है कि वह विकेन्द्रित न्याय व्यवस्था का पक्षधर था। उसने बहुमत से निर्णय किये जाने का समर्थन किया है, तथा उचित न्याय के लिए लिखित प्रमाणों को महत्वपूर्ण माना, इसके अभाव में साक्षी को प्रमुखता दिये जाने का समर्थन किया है। कौटिल्य सम्पूर्ण न्यायिक प्रक्रिया को लिखे जाने तथा अभियुक्त को अपना पक्ष प्रस्तुत करने के पूर्ण अधिकार का पक्षधर था। उसने गुप्तचर विभाग द्वारा न्यायाधीशों के आचरण का निरीक्षण किये जाने पर बल दिया, तथा नियमानुसार कार्य न करने वाले न्यायाधीशों को दण्डित किये जाने का पक्षधर था।

शुक्राचार्य के अनुसार जिस काग्र को करने से सत् असत् का विचार कर राजा अपनी प्रजा को धर्म में संलग्न रखता है, वह व्यवहार (न्याय) है। शुक्राचार्य ने दो प्रकार के न्यायालय स्थानीय न्यायालय एवं सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में न्यायालय का उल्लेख किया है। शुक्र ने स्थानीय न्यायालयों का दो प्रकार से उपयोगी माना है, प्रथम परस्पर सहयोग एवं सद्भावना से विवादित विषय में दिया गया निर्णय स्थायी एवं संतोषप्रद होता है। दुसरे इनके द्वारा वास्तविकता तक पहुँचा जा सकता है। यह प्रणाली तत्काल निर्णय, सर्वसुलभ, अल्प समय में वास्वविक न्यायप्रप्ति के लिए उपयोगी है। शुक्राचार्य सामाजिक संरचना के आधार पर न्याय निर्णय प्रक्रिया का उल्लेख करता है, यथा शिल्पी, नर्तक, सन्यासी, चोर को स्वनिर्णय का अधिकार तपस्वियों के निर्णय वेदों के ज्ञाताओं द्वारा वनवासियों के निर्णय के लिए वनवासियों ही अधिकृत करता है। साथ ही राजा को सलाह देता

है वह मायावी तान्त्रिकों के विवादों का निर्णय स्वयं न करे। शुक्र ने सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में चतुस्तरीय न्यायिक संरचना का उल्लेख किया है, सर्वोच्च स्तर पर राजा के अधीन न्याय सभा, तदोपरान्त अध्यक्ष न्यायालय तत्पश्चात् सभ्य न्यायालय व साहसाधिपति के न्यायालय को निम्न पापदान पर रखा है। शुक्र द्वारा न्याय सभा में ब्राह्मण को वरीयता देने के साथ अन्य सभी जातियों के प्रतिनिधित्व का भी समर्थन करता गया है। न्यायसभा की पवित्रता के लिए निर्णय सम्बन्धी सभी साधनों का न्यायसभा के उपलब्ध होने का शुक्र आवश्यक मानता है। शुक्रनीति न्यायधीषों की नियुक्ति के लिए धर्मज्ञ, सदाचार सम्पन्न, सत्यवादी, प्रियभाषी, कानून विद जैसी योग्यता निर्धारित करती है। शुक्र ने राजा को न्याय करते समय स्थान, समय विभिन्न जातियों श्रेणियों और कुलों की परम्पराओं का पालन करते हुए निर्णय करने का आदेश दिया है। राजा का कर्तव्य है कि वह क्रोध लोभ से मुक्त हो कर प्राद्विवाक, मन्त्री, पुरोहित सहित दोनों वादी प्रतिवादी की युक्ति-प्रयुक्ति को भली भाँती धर्मशास्त्रानुसार सुन, राजा को एकान्त में कोई मुकदमा नहीं सुनना चाहिए। शुक्र ने भी मनु कौटिल्य की भाँति विवादित विषयों में सत्य तक पहुँचने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता को महत्व दिया है, जो साक्ष्य, लिखित एवं भोग के रूप में हो सकते हैं, इनके अभाव में शुक्र ने गुप्त अन्वेषण युक्ति प्रयोग, शपथ तीन साधनों को क्रमानुसार अपनाने का परामर्श दिया है। शुक्र के अनुसार सभा में सभासदों को सत्य भाषण व वादी-प्रतिवादी के प्रति सम्मानजनक व्यवहार करना चाहिए। शुक्र नीति के अनुसार राजा यदि कर्तव्य पालन नहीं करता है तो वह कष्टभागी होता है।

भीष्म के अनुसार राजा को निष्पक्ष न्याय व्यवस्था की स्थापना के लिए अनुभवी, सक्षम न्यायविद की नियुक्ति करना चाहिए। राजधर्म के अनुसार राजा के समक्ष कोई भी आदण्ड नहीं

होता चाहे वह उसके स्वजन और पुरोहित ही क्यों न हो। भीष्म के अनुसार राज्य में न्याय व्यवस्था के अभाव में राजा को स्वर्ग एवं यष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

सोमदेव के अनुसार राज्य में न्याय व्यवस्था की आवश्यकता व्यक्तियों के परस्पर अधिकारों के अतिक्रमण को रोकने के लिए आवश्यक है उनके अनुसार अपने अधीन प्रजा के गुण-अगुण की गुरुता एवं लघुता के ज्ञान के लिए राजा तुला दण्ड के समान होता है। न्याय कार्य के सम्पदान के लिए राजा को न्यायालयों की स्थापना, न्यायधीषों की नियुक्ति व न्याय व्यवस्था के विधिवत संचालन के लिए समुचित परिस्थितियों के निर्माण की व्यवस्था करनी चाहिए।

बृहस्पति राजा को न्याय का स्रोत मानते हैं, राजा का भय व्यक्तियों के कर्तव्य पालन के लिए आवश्यक है। धर्म व्यवहार, चरित्र (देषकालिक रीति-रिवाज) तथा राजाज्ञा को बृहस्पति न्याय का आधार मानता है। न्याय विभाग का प्रमुख प्राद्विवाद शास्त्रज्ञ ब्राह्मण होता था। न्याय सभा बहुसदस्यीय होती थी, जो सभी लोक नीति के जानकार व धर्मज्ञ होते थे। सर्वोच्च अपील का क्षेत्राधिकार राजा के पास था, न्यायिक कार्य करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था। साहसिक निर्णय राजा द्वारा लिये जाते थे। निम्न न्यायालय ग्राम या पुर में और सर्वोच्च न्यायालय राजा की सभा में होता था, जहाँ राजा स्वयं या अपने प्रतिनिधि के माध्यम से न्यायिक कार्य सम्पादित करता था। परिश्रमक न्यायालय की व्यवस्था भी बृहस्पति द्वारा की गई, जो स्थान-स्थान जा कर निरीक्षण और न्यायिक कार्य करते थे। बृहस्पति द्वारा न्यायिक प्रक्रिया के चार सोपान का वर्णन किया गया है, यथा-पूर्व पक्ष, उत्तर क्रियावाद तथा निर्णय। बृहस्पति न्यायिक प्रक्रिया में साक्ष्य को महत्वपूर्ण स्थान देता है, जिनके बारह प्रकार बताये गये हैं यथा लिखित,

गूढ लेखित, स्मारित, कुल्य, दूतक, याद्रच्छिक, उत्तरसाक्षी, कार्य मध्यगत, भू भूत अध्यक्ष तथा ग्राम। वादी प्रतिवादी के सम्बन्धी, मदिरोन्मत्त पुर्वदण्डित, आर्त्त, साहसिक व वास्तविक को साक्षी के अणिकार से वंचित किया गया है। साथियों के लिए शपथ का भी प्रावधान किया गया है।

उपरोक्त परिप्रक्ष्य में निस्मर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय को राजा की प्राण वायु कहा गया है। राजा न्याय का स्रोत था प्रत्येक व्यक्ति में धर्म (कर्तव्य) पालन को न्याय की संज्ञा दी गई है भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय की कानूनी धारणा मे स्वीकार्य किया गया है। सत्य की रक्षा, प्रजा के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा तथा दुष्ट प्रकृति में तत्वो एवं अवयवस्था उत्पन्न करने वाली प्रजन को दण्डित करना आदि न्याय के उद्देश्य प्राचीन राजनीतिक चिंतको द्वारा बताये गये है। इसलिए जहाँ राज्य में न्याय की चित को बनाये रखने के लिए न्याय की निस्पक्षता न्यायधीष की विद्वता साक्ष्य प्रमाण, धर्म एवं परम्परा के पालन की श्रेष्ठता वाद के लिए ब्राहमणो पर निर्भरता एवं अति विष्वास किया गया है वही उन्होने सत्य की

रक्षा के लिए न्यायधीषो की दृढप्रतिज्ञा विभिन्न स्तरीय न्यायिक व्यवस्था न्यायिक पुनरीक्षण एवं न्यायिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण पर बल दिया है जो आधुनिक भारत की न्याय व्यवस्था पर बल दिया है जो आधुनिक भारत की न्याय व्यवस्था के आधार एवं प्रेरणा स्रोत कहे जा सकते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शास्त्री आर शामा, कौटिल्य अर्थशास्त्र मैसूर प्रिटिंग पब्लिशिंग हाऊस, 1967।
2. वेदालकार सत्सकेतु, प्राचनी भारत की शासन संस्थाये और राजनीतिक विचार, सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1983।
3. पाण्डेय नेत्र, प्राचनी भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायं, लोक भारतीय प्रकाषन, इलाहाबाद, 1986।
4. डॉ. पाण्डेय श्याम लाल, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, शषिधर मालवीय प्रकाषन, लखनऊ, 1989।
5. सिंह गोविन्द, सम्पूर्ण मनुस्मृति, साहनी पब्लिकेणन्स, दिल्ली, 2013.